दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक सातवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

कार्तिक
२४७९

नूतनवर्ष का मंगल-संदेश

नूतनवर्ष के सुप्रभात के मंगल-संदेश में पूज्य श्री स्वामीजी ने कहा था कि—आत्मा के परम पारिणामिकस्वभाव की महिमा करना, वह आत्मा का नूतनवर्ष है... उस स्वभाव में से ही समस्त निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं। ध्रुव... ज्ञायक... परम पारिणामिकस्वभाव की महिमा करते-करते सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की समस्त निर्मल पर्यायें प्रगट हो जाती है; इसलिये उसकी महिमा—उसकी रुचि—और उसमें लीनता ही आत्मार्थी जीवों का कर्तव्य है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

११

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

- पंचामृत
- अहो रत्नत्रय महिमा !
- सिद्ध का संदेश
- अहो, शुद्धात्म-प्राप्ति की दुर्लभता !
- मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी
- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?
- सामान्यगुण
- दर्शाऊँ तो करना प्रमाण

सिद्ध समान सदा पद मेरो!

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि—'मैं प्रभु हूँ, पूर्ण हूँ'—ऐसा निश्चित करके तुम भी प्रभुत्व मानना। सर्वज्ञ भगवान और अनंत ज्ञानी-आचार्यों ने समस्त आत्माओं को पूर्ण रूप से देखा है। तू भी पूर्ण है, परमात्मा जैसा है। ज्ञानी स्वभाव को देखकर कहते हैं कि तू प्रभु है; क्योंकि भूल और अशुद्धता तेरा स्वरूप नहीं है। अवस्था में क्षणिक भूल है, उसे हम गौण करते हैं। भूल को हम नहीं देखते क्योंकि हम तो भूलरहित आत्मस्वभाव को मुख्यरूप से देखनेवाले हैं। और ऐसे पूर्णस्वभाव को स्वीकार करके उसमें स्थिरता द्वारा अनंत जीव परमात्मदशारूप हुए हैं; इसलिये जो तुझसे हो सकता है, वही कहा जाता है..... 'मैं सिद्ध समान प्रभु हूँ'—ऐसा विश्वास तुझे अपने से न आये, तबतक सर्वज्ञ परमात्मा की कही हुई बातें तेरे अंतर में नहीं बैठेंगी।

—समयसार-प्रवचन से

आत्मधर्म

कार्तिक २४७९ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक सातवाँ

पं... चा... मृ... त

[१] आत्मज्ञानी की सेवा [देशनालब्धि का नियम]

समयसार की चौथी गाथा में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा को जाननेवालों की संगति-सेवा-उपासना पहले कभी नहीं की है।—ऐसा कहकर यहाँ अपूर्व देशनालब्धि सिद्ध करना चाहते हैं। पूर्वकाल में शुद्धात्मा के शब्द तो कानों में पड़े हैं, परन्तु उन्हें यहाँ शुद्धात्मा के श्रवणरूप में अर्थात् देशनालब्धिरूप में स्वीकार नहीं करते। यहाँ तो ऐसी देशनालब्धि ली है कि जो देशनालब्धि प्राप्त होने पर जीव फिर संसार में न आये। और वह देशनालब्धि आत्मज्ञानी के पास से ही मिलती है—ऐसा नियम बतलाने के लिये यहाँ आत्मज्ञानी की सेवा-संगति करने की बात रखी है। यदि अज्ञानी के उपदेश से भी अनादि मिथ्यादृष्टि को देशनालब्धि हो जाती हो तो 'आत्मज्ञानी की सेवा' की बात किसलिये करें? आचार्यदेव कहते हैं कि भिन्न आत्मा का एकत्व ही पहले कभी जीवों के सुनने में, परिचय में या अनुभव में नहीं आया है;—क्यों?—क्योंकि अपने में अनात्मज्ञपना है, और दूसरे आत्मा को जाननेवालों की संगति-सेवा नहीं की। यहाँ अनादि अज्ञानी को ज्ञानी बनाने की बात ली है, इसलिये देशनालब्धि ज्ञानी के पास ही मिलती है—यह बात रखी है। इस सम्बन्ध में आजकल बहुत गड़बड़ी चल रही है, परन्तु आचार्यदेव ने स्पष्ट बात कही है, उस पर लोग विचार नहीं करते। [समयसार गाथा ४ के प्रवचन से]

[२] पर्यायमूढ़ परसमय है [नाम से जैन, किन्तु भाव से बौद्ध]

आत्मा अनंत धर्मों से अभेदरूप नित्यस्थायी द्रव्य है; उस नित्य आत्मा के आश्रय से निर्मलदशा प्रगट होती है—ऐसा न मानकर, जो क्षणिक पर्याय के आश्रय से निर्मलदशा प्रगट होना मानता है, वह जीव पर्यायमूढ़ है, वह बौद्धमती जैसा है। वस्तु तो द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है; उसमें त्रिकाली द्रव्य-गुण के आश्रय से नवीन-नवीन पर्यायें प्रगट होती है।—ऐसा यदि जाने, तब

तो पर्याय, द्रव्य की ओर ढल जाये, अर्थात् द्रव्य का आश्रय करके पर्याय निर्मलरूप से परिणमित हो। अनंत धर्मों से अभेद ऐसे ध्रुव द्रव्य के आश्रय से अवस्था का प्रगट होना न मानकर, पर्याय में से या निमित्त से पर्याय का प्रगट होना मानते हैं, उन जीवों ने वस्तु को द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप नहीं माना परन्तु क्षणिक पर्याय को ही वस्तु माना है, इसलिये वे क्षणिकवादी बौद्ध जैसे हैं—वे पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। व्यवहार (शुभराग) करते-करते निश्चय प्रगट होता है—ऐसी जिनकी मान्यता है, वे भी पर्यायमूढ़ हैं। जो जीव, ध्रुव आत्मस्वभाव का आश्रय करता है, वही सम्यग्दृष्टि है, और वह स्व-समय है। जिसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर है अर्थात् जो पर्याय के आश्रय से लाभ मानता है, वह जीव, नाम से भले ही जैन हो, परन्तु भाव से बौद्ध है। *[समयसार गाथा २ के प्रवचन से]*

[३] ज्ञानज्योति की जगमगाहट!

जीव अज्ञानभाव से स्वर्ग में भी अनंतबार गया और नरक में भी अनंतबार गया; पुण्य-पाप को आत्मा के साथ अभेदभाव की मान्यता से चारों गति में अनंतकाल से परिभ्रमण किया; परन्तु जब यह ज्ञानज्योति जगमग करती जागृत हुई और चारों गति के कारण को मूल में से उखाड़ती प्रगट हुई, वहाँ परिभ्रमण दूर हो गया और अंशतः मुक्ति की पर्याय प्रगट हुई। सच्ची समझ से अज्ञानरूपी अंधकार का नाश किया। मेरा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा वीतरागी स्वभाव ही है—ऐसा ज्ञान में स्वीकारती हुई ज्ञानज्योति भलीभाँति सज्ज हुई है।

जिसप्रकार तलवार को सज्ज करते हैं, उसीप्रकार ज्ञानज्योति भलीभाँति सज्ज हुई है अर्थात् तैयार हुई है;—ऐसी तैयार हुई है कि अब केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी, बीच में कोई विघ्न आ ही नहीं सकता; ज्ञानज्योति प्रगट हुई सो हुई, अब अखण्ड धारा से केवलज्ञान तक पहुँच ही जायेगी; ज्ञानज्योति ऐसी सज्ज हुई कि ज्ञान-आनन्द करती हुई केवलज्ञान-समुद्र में मिल जायेगी।—ऐसा उसका विस्तार है; उसे कोई नहीं ढँक सकता; चैतन्य की ज्ञानज्योति जागृत हुई उसे रोकने में—आवृत करने में समर्थ इस जगत में कोई पदार्थ नहीं है; किसी पदार्थ का ऐसा गुण नहीं है या किसी पदार्थ की पर्याय नहीं है। जागनेवाला जागृत हो तो तीनकाल-तीनलोक में किसी की शक्ति नहीं है जो उसे आवृत कर सके।

—इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि:—

अरे आत्मा! तू जाग... तू जागकर देख तो तेरे स्वभाव में बन्धन है ही नहीं।—ऐसा भान होने से द्रव्यबन्ध भी टूट ही जायोगा—रहेगा नहीं। जब ज्ञान प्रगट होता है, तब रागादिक नहीं रहते,

और उनका कार्य जो बन्ध है, वह भी नहीं रहता; उस ज्ञान को आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह ज्ञान सदैव प्रकाशमान ही रहता है। *[समयसार बन्ध-अधिकार के प्रवचन से]*

[४] ज्ञायकभाव की उपासना

श्री समयसार की छठवीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपने स्वानुभवपूर्वक कहते हैं कि—ज्ञायकमूर्ति आत्मा प्रमत्त या अप्रमत्त नहीं है। क्षणिक पर्याय में जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भाव हैं, उतना ही आत्मा नहीं है; भगवान आत्मा तो एक ज्ञायकभाव है, वह शुभ-अशुभभावरूप से परिणमित ही नहीं होता। पर्याय में व्यवहार होने पर भी स्वभावदृष्टि से देखें तो ज्ञायकभाव उसरूप परिणमित नहीं होता।—ऐसा ज्ञायकभाव है, उसका जहाँ निर्णय किया, वहाँ पर्याय अन्तर में अभेद हुई और शुद्धता प्रगट हुई। इसका नाम ज्ञायकभाव की उपासना है। इसप्रकार ज्ञायकभाव की उपासना से ही क्रमशः शुद्धता बढ़ती जाती है। यहाँ पंचपरमेष्ठी की या शुभराग की उपासना करने को नहीं कहा, क्योंकि पंचपरमेष्ठी तो अपने से पर हैं और शुभराग विकार है,—उन किसी के आश्रय से आत्मा को शुद्धपना या मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। एकरूप ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही शुद्धपना और मोक्षमार्ग प्रगट होता है, इसलिये एक ज्ञायकभाव की उपासना करने को ही कहा है। द्रव्यदृष्टि से ज्ञायकभाव तो सदैव ज्ञायक ही है। 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसा स्वभावदृष्टि द्वारा निर्णय करके उसमें स्थिर हुआ, तब उस आत्मा को 'शुद्ध' कहा जाता है। ज्ञायकभाव में अभेद होकर पर्याय शुद्ध हुई; इसलिये उस आत्मा को 'शुद्ध' कहा।—इसका नाम ज्ञायकभाव की उपासना है।

'स्वभावदृष्टि से ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है'—ऐसा कहते ही पर्याय में वे भाव हैं—ऐसा व्यवहार आ जाता है; परन्तु यहाँ स्वभावदृष्टि में उसकी गौणता है। अभेद एक ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर जिस पर्याय ने उसे स्वीकार किया, उस पर्याय में शुद्धता हो गई; परन्तु उस पर्याय पर सम्यग्दर्शन की दृष्टि नहीं है; एकरूप ज्ञायकभाव पर की दृष्टि है। ऐसी ज्ञायकभव की उपासना अर्थात् उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें लीनता वह मोक्षमार्ग है।

[समयसार गाथा ६ के प्रवचन से]

[५] स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान [पर्याय का सत्पना]

एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव है, इसलिये एक वस्तु को दूसरी वस्तु कुछ भी लाभ या हानि नहीं कर सकती,—ऐसा सिद्धान्त है। यहाँ **प्रश्न** उठता है कि—आत्मस्वभाव में राग का

अभाव है; जिसमें जिसका अभाव हो, उसमें वह कुछ हानि नहीं कर सकता, तब फिर राग, आत्मा को हानि का कारण है या नहीं ?

निम्नोक्त तीन प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—

(१) दृष्टि की अपेक्षा से आत्मा में राग का अभाव ही है। दृष्टि के विषयभूत अखण्ड स्वभाव में राग है ही नहीं; इसलिये वह हानि नहीं करता। राग, अखण्ड स्वभाव को हानि नहीं करता और न स्वभाव की दृष्टि को हानि पहुँचाता है। राग के कारण प्रतीति में कचास आ गई हो—ऐसा नहीं है।

(२) जो राग है, वह ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय है। राग को और ज्ञान को ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। राग है, उसे साधक जानता है परन्तु ज्ञान को और राग को एकमेक नहीं मानता; इसलिये वास्तव में राग, आत्मा को हानि नहीं करता परन्तु आत्मा का ज्ञेय ही है।

(३) अब, चारित्र अपेक्षा से देखने से कुछ सूक्ष्म बात है। राग चारित्रगुण की विकारी दशा है, परन्तु वह राग, चारित्र की प्रगटी हुई निर्मलता को कुछ भी हानि नहीं करता। राग के समय भी चारित्र की वर्तमान पर्याय में जो निर्मलता प्रगट हुई है, वह तो प्रगटी ही है, उस निर्मलता का कहीं राग अभाव नहीं करता। इसलिये चारित्र की वर्तमान प्रगटी हुई निर्मलता में उस समय का राग हानि नहीं करता। देखो, स्वभाव और राग दोनों पृथक् हो गये; स्वभाव में राग का अभाव, राग में स्वभाव का अभाव।

जैसे कि—चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ है, उतनी चारित्र की निर्मलता प्रगट हुई है और उस पर्याय में अप्रत्याख्यान का राग भी है, तथापि वह राग चारित्र की प्रगटी हुई निर्मलता को (स्वरूपाचरण को) हानि नहीं करता। और इसीप्रकार छठवें-सातवें गुणस्थान में मुनि को चारित्र की अधिकांश निर्मलता प्रगट हुई है और संज्वलन का अत्यन्त अल्पराग रहा है; परन्तु वह राग उस भूमिका में प्रगट हुई निर्मल चारित्र को कुछ भी हानि नहीं करता।—तथापि चारित्र में राग को हानिकर्ता कहा जाता है, उसका कारण क्या है—वह समझना चाहिये। वह इसप्रकार है:—सम्यग्ज्ञान ने वस्तु के अभेद स्वभाव को जाना है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुणभेद को भी जाना है तथा उसकी पर्याय को भी जाना है। उस ज्ञान में चारित्र की पूर्णता का स्वरूप ज्ञात हुआ है; चारित्रगुण का पूर्ण स्वरूप रागरहित होना चाहिए, वैसा वर्तमान पर्याय में नहीं है; इसलिये पर्याय में उतनी हानि है।

इसप्रकार गुण-पर्याय की तुलना की अपेक्षा से, जितना राग है, उतनी चारित्रपर्याय में हानि है—ऐसा कहा जाता है। चारित्र का पूरा परिणमन नहीं है, चारित्र की पूर्णदशा प्रगट नहीं है; इस अपेक्षा से हानि कही है; परन्तु जितनी निर्मलता प्रगट हुई है, उसमें तो राग कुछ भी हानि नहीं करता, वह पर्याय सत् है। जो निर्मलता है, उसमें राग का अभाव है; इसलिये उस निर्मलता को राग हानि नहीं करता।

अहो! प्रगटी हुई निर्मल पर्याय को राग भी हानि नहीं करता, तब फिर कर्म कुछ हानि करे, यह तो बात ही कहाँ रही? कर्म किसे हानि करता है? जितनी निर्मलता प्रगट हुई है, वह तो प्रगटी ही है, उसमें कर्म कुछ नहीं कर सकता, और जो निर्मलता स्वयं प्रगट ही नहीं हुई है, उसमें तो कर्म करेगा ही क्या? जो पर्याय प्रगटी है, वह तो सत् है, उसमें कर्म कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता; और जो पर्याय प्रगट ही नहीं हुई है अर्थात् असत् है, उसमें भी कर्म कुछ नहीं कर सकता। इसप्रकार कर्म, आत्मा की पर्याय में कुछ नहीं करता। ऐसे समय-समय के सत् की निरपेक्षता जो जीव यथार्थरूप से जाने, वह जीव पर से निरपेक्ष होकर द्रव्य-सन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा।

[रात्रि-चर्चा से]

सिद्ध का सन्देश

जिसे सच्ची श्रद्धा प्रगट हो, उसका सारा अन्तर पलट जाता है, हृदय-परिवर्तन हो जाता है, अन्तर में उथल-पुथल मच जाती है, अंध से सूझता बन जाता है; अन्तर की ज्योति जागृत हो, उसकी दशा की दिशा एकदम फिर जाती है; जिसका हृदय-परिवर्तन हो, उसे किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता, उसके अन्तर से निःशंक प्रतिध्वनि उठती है और साक्षी देती है कि अब हम प्रभु के मार्ग पर आ गये हैं, सिद्ध का सन्देश आ चुका है, अब अल्पकाल में सिद्ध होकर ही रहेंगे; उसमें अन्य कुछ नहीं हो सकता—कोई फेर नहीं पड़ सकता।

[समयसार बंध-अधिकार प्रवचन से]

रत्नत्रय का भक्त

श्री श्राविका-ब्रह्मचर्याश्रम के उद्घाटनोत्सव-प्रसंग पर
आश्रम में पूज्य गुरुदेव का मंगल प्रवचन

[वीर सं. २४७८, माघ शुक्ला ५ : श्री नियमसार कलश २२०, सूत्र १३५]

यह नियमसार भागवात शास्त्र है; इसका परमभक्ति अधिकार पढ़ा जा रहा है। भक्ति किसे कहा जाता है ? अपने ज्ञाता-दृष्टा आत्मस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और रमणता, वह सच्ची भक्ति है; देव-गुरु-शास्त्रादि पर की भक्ति का भाव, वह शुभराग है; वह धर्म नहीं है। धर्म तो अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि और स्व-संवेदन करके उसमें लीन होना ही है, और उसी को भगवान परमभक्ति कहते हैं।

ऐसी भक्ति करनेवाला जीव निरन्तर भक्त है—ऐसा अब २२० वें श्लोक में कहते हैं:—

जो जीव इस भवभयहर्ता सम्यक्त्व की, शुद्धज्ञान की और चारित्र की भवछेदक अतुल भक्ति निरन्तर करता है, वह काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पापसमूह से मुक्तचित्तवाला जीव-श्रावक हो अथवा संयमी हो—निरन्तर भक्त है... भक्त है!

देखो, इस आश्रम के मांगलिक में भक्ति की बात आई है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज महान अध्यात्म की मूर्ति थे, अमृत के कंद थे; वे इससमय स्वर्ग में विराजमान हैं; वहाँ से मनुष्य होकर केवलज्ञान प्रगट करेंगे और मुक्त हो जाएँगे। वे कहते हैं कि अहो! श्रमण हो या श्रावक हो, उसे शुभ या अशुभराग के समय भी द्रव्यदृष्टि की मुख्यता नहीं हटती; प्रतिक्षण स्वभाव की दृष्टि से उसे रत्नत्रय की भक्ति वर्तती है, इसलिये वह भक्त है... भक्त है! सर्वज्ञ परमात्मा की यह बात संतों ने नौबत पीटकर जाहिर की है। धर्मी श्रावक को भी निरन्तर रत्नत्रय की भक्ति होती है। राजपाट हो, गृहस्थाश्रम हो, स्त्रियाँ हों, तथापि अन्तर में उस धर्मी को भान है कि मैं तो चिदानन्दमूर्ति हूँ; शुद्ध चिदानन्दस्वरूप की मुख्यता उसकी दृष्टि में एकसमय भी नहीं छूटती। ऐसा धर्मी जीव रत्नत्रय का भक्त है। दृष्टि में शुद्ध द्रव्य की मुख्यता छूटकर एक क्षण भी पर्याय की या निमित्त की मुख्यता हो जाये तो मिथ्यात्व

हो जाता है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञानरूप भक्ति धर्मी के एक क्षण भी नहीं हटती।

मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है; उसमें गुणगुणी के भेद का विकल्प भी नहीं है—इसप्रकार शुद्ध आत्मा का भान करना, वह पहली अपूर्व भक्ति है। जो श्रावक ऐसा भान करता है, वही भक्त है। शुद्ध रत्नत्रय से मुक्ति होती है और राग से बन्धन होता है। निचली भूमिका में भगवान की भक्ति, गुरु की भक्ति आदि का शुभभाव आता है, परन्तु ज्ञानी उसे आस्रव समझते हैं, वह निश्चय से परम भक्ति नहीं है; निश्चय से परमभक्ति तो अपने शुद्ध आत्मा का भजन करना ही है। परमात्मतत्त्व के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय प्रगट हो, वह भवभय का नाश करनेवाली भक्ति है। इसके अतिरिक्त निमित्त से या राग से आत्मा को लाभ माने तो वह मिथ्यात्व है; भेद का विकल्प उठे, वह भी राग है; भेद का भी लक्ष छोड़कर अभेद ज्ञानानन्दस्वभाव की अभेद भक्ति करना अर्थात् उसका आश्रय करके उसमें तन्मय होना, वह निश्चयभक्ति है। जहाँ ऐसी भक्ति हो, वहाँ देव-गुरु की भक्ति के शुभराग को व्यवहारभक्ति कहा जाता है। सर्वज्ञ के मार्ग में जो शुद्ध रत्नत्रय को भजे, उसी को भक्त कहा है। जो जीव रत्नत्रयरूप से परिणमित हुआ, वह रत्नत्रय का भक्ति है।

शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करके रागरहित स्वसंवेदन से अपने आत्मा को ही स्व-ज्ञेय बनाकर जो जानता है, उसे रत्नत्रय की भक्ति है। गृहस्थ हो या मुनि हो—जिसे अपने शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की भक्ति है, वही सच्चा भक्त है। यह भक्ति कैसी है?—भव की छेदक है। इसके अतिरिक्त, आत्मा के भान बिना साक्षात् भगवान के पास जाकर भक्ति करे और उससे कल्याण हो जायेगा—ऐसा माने, उसे भक्त नहीं कहते।

चिदानन्द भगवान आत्मा में भव नहीं है; उसकी जो भक्ति है, वह भवछेदक है। चैतन्यस्वभाव से च्युत होकर अपने को विकार जितना मानना, वह मिथ्यात्व का भजन है और वह भव का कारण है। मैं तो त्रिकाल ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ, एक समय का क्षणिक विकार है, वह मैं नहीं हूँ—ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-रणमतारूप निज शुद्धात्मा की जो भक्ति है, वह भव का नाश करनेवाली है।

अन्तर में ऐसी शुद्ध रत्नत्रयदशा प्रगट हो, तब मुनिपना होता है। जिसे ज्ञाता चिदानन्द-स्वभाव का भान हुआ और उसमें लीन होकर मुनिदशा प्रगट हुई—ऐसे संत को गणधरदेव के भी नमस्कार पहुँचते हैं; 'णमो लोए सव्व साहूणं'—ऐसा बोलते समय समस्त भावलिंगी संतों को नमस्कार आ जाता है।

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं!

—अरिहंत, सद्धि, आचार्य, उपाध्याय और साधु—पंचपरमेष्ठी हैं; गणधरदेव जब नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब उन पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार आ जाता है। गणधरदेव स्वयं भी परमेष्ठी पद में युक्त हैं। जो आत्मा के परम आनन्दपद में स्थिर हुए हैं, वे परमेष्ठी हैं।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महा मुनिराज भावलिंगी संत थे; अपने अन्तर के अनुभव में सिद्ध भगवान जैसे आनन्द का वे अनुभव करते थे; जैसा अनुभव में आया, वैसा ही वस्तुस्वरूप उन्होंने कहा है। स्वभाव के आनन्द की मस्ती में झूलते-झूलते, शुभ विकल्प उठने पर इस शास्त्र की रचना हो गई है। संत मुनि उन शब्दों के या राग के भी कर्ता नहीं है; चिदानन्दस्वभाव के भानपूर्वक उसकी रमणता में झूलते हुए इस शास्त्र की रचना हो गई है, उसके वे ज्ञाता हैं। टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव हैं; वे भी ऐसे ही महान भावलिंगी संत थे। अन्तर में सच्चिदानन्द परमात्मा का अनुभव करते-करते इस टीका की रचना हो गई है। उसमें इस कलश में भक्ति का स्वरूप कहा है कि जो जीव, विकार से रहित होकर शुद्ध रत्नत्रय को निरन्तर भजता है—उसकी आराधना करता है, वही भक्त है।

भगवान की भक्ति में कषाय की मंदता का भाव, वह शुभभाव है; उसमें धर्म नहीं है किन्तु पुण्य है; शब्द बोले जाएँ या हाथ जुड़ें—इत्यादि देह की क्रिया है, उससे तो पुण्य भी नहीं है, वह तो जड़ है। देह से भिन्न और राग से पार चिदानन्दस्वभावी आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-रमणता, वह धर्म है, और वही परमभक्ति है।

यहाँ शुद्ध रत्नत्रय की 'अतुलभक्ति' की बात ली है। 'अतुलभक्ति' कहकर व्यवहार का और राग का निषेध बतलाया है। स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की जो भक्ति है, वह ऐसी अतुल है कि किसी के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती, उसे किसी राग की या व्यवहार की उपमा नहीं दी जा सकती। और कहा है कि रत्नत्रय की अतुलभक्ति 'निरन्तर' करते हैं अर्थात् स्वभाव के आश्रय की मुख्यता एक समय भी नहीं हटती। स्वभाव का जितना अवलम्बन वर्तता है,

उतनी रत्नत्रय की भक्ति निरन्तर वर्तती है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी निश्चयस्वभाव की मुख्यता क्षणमात्र भी नहीं हटती; इसलिये उसके निरन्तर सम्यग्दर्शनादि की भक्ति है। मुनिराज कहते हैं कि अहो! शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करनेवाले वे श्रावक और श्रमण भक्त हैं—भक्त हैं! दो बार 'भक्त हैं'—ऐसा कहकर अपना प्रमोद प्रगट किया है।

भगवान! तेरा आत्मा ही परमात्मा है; परमात्मपद तेरी आत्मशक्ति में भरा है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान करके उसमें लीन हो, वही परमभक्ति है। ऐसी निश्चयभक्ति के भानसहित सम्यग्दृष्टि श्रावक भी तीर्थंकर भगवान की भक्ति करते हैं; एक भवावतारी इन्द्र और इन्द्राणियाँ भी भगवान के पास भक्ति से बालक की भाँति नाचने लगते हैं; परन्तु उससमय भी अन्तर में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि नहीं हटती। नंदीश्वरद्वीप में शाश्वत् जिनबिम्ब हैं, वहाँ जाकर इन्द्रादि सम्यक्त्वी भी भक्ति से नृत्य करने लगते हैं, वह व्यवहारभक्ति है, और अन्तर में शुद्धस्वभाव की दृष्टि पड़ी है, वह निश्चयभक्ति है।

लोग कहते हैं कि शक्तिमान को भजो! अपना ध्रुव कारणपरमात्मा ही परम शक्तिमान है, परमात्मपद देने की शक्ति उसी में भरी है, इसके अतिरिक्त किसी पर में—निमित्त में, राग में या पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह परमात्मपद को दे; इसलिये अपने ध्रुव चिदानन्द कारणपरमात्मा को ही ध्येयरूप करके उस पर दृष्टि लगाना है, वह शक्तिमान का भजन है और वही सच्ची भक्ति है। मैं एक समय में परिपूर्ण परमात्मा हूँ—ऐसी दृष्टि का अन्तरपरिणमन हुआ, उसमें धर्मी को एक समय भी विरह नहीं पड़ता; बाह्य में विषयादि के अशुभराग के समय भी वैसी दृष्टि निरन्तर रहती है।—ऐसी दृष्टिवाला जीव, रत्नत्रय का भक्त है। यदि एक क्षण भी ऐसी भक्ति करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

जो जीव चैतन्यमहिमा में लीन होकर शुद्ध रत्नत्रय की अतुल भक्ति करता है, वह समस्त विषय-कषाय से विमुक्तचित्तवाला जीव भक्त है; उसके अन्तर की रत्नत्रय की भक्ति भवभय का नाश करनेवाली है। जिसने चिदानन्द परमात्मतत्त्व की भक्ति की—उसकी रुचि करके आराधना की—उसे विषयों की या विकार की रुचि रहती ही नहीं; जहाँ परिणति स्वभाव में अंतर्मुखरूप से परिणमित हुई, वहाँ बाह्य काम-क्रोधादि से विमुखता हो गई।—इसप्रकार विषय-कषाय से विमुक्तचित्तवाला जो जीव, शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करता है, वह जीव निरन्तर भक्त है... भक्त है,—फिर भले ही वह श्रावक हो या मुनि हो!

श्री मुनिराज पुकार करते हैं कि अहो! चिदानन्द परमात्मतत्त्व की श्रद्धा करके जो उसकी आराधना करता है, वह जीव निरन्तर भक्त है—भक्त है! उसे चलते-फिरते, खाते-पीते निरन्तर चैतन्य का भजन वर्तता है! श्रावक को कदाचित् लड़ाई आदि का किंचित् अशुभभाव आ जाये, तो उससमय भी दृष्टि में से शुद्ध चैतन्यतत्त्व का अवलम्बन नहीं हटता, इसलिये कहा है कि निरन्तर भक्त है, भक्त है!

अब, निश्चयभक्ति के साथ व्यवहारभक्ति भी कैसी होती है वह बतलाते हैं:—

वली मोक्षगत पुरुषो तणो गुणभेद जाणी तेमनी,
जे परम भक्ति करे, कही शिवभक्ति त्यां व्यवहारथी ॥१३५॥

सिद्ध जैसे अपने शुद्धात्मा की अभेदभक्ति वह, निश्चयभक्ति है और अपने से भिन्न सिद्ध परमात्मा की भक्ति, वह व्यवहारभक्ति है।

जो जीव, मोक्षगत पुरुषों का गुणभेद जानकर उनकी परम भक्ति करता है, उस जीव को व्यवहारनय से निर्वाणभक्ति है। जिसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भान है किन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है, वह जीव, शुभराग के समय सिद्ध भगवान के गुणों को लक्ष में लेकर भक्ति करता है। अपना आत्मा सिद्ध जैसा है;—ऐसा भानपूर्वक उसमें लीनता, वह निश्चयभक्ति है, और वहाँ सिद्ध भगवान की भक्ति का भाव, वह व्यवहारभक्ति है।

मोक्ष अर्थात् आत्मा की ज्ञान-आनंदमय निर्विकारी पर्याय; और संसार अर्थात् एकसमय पर्यंत का विकारी भाव। स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप शुद्ध रत्नत्रय से जो मुक्ति को प्राप्त हुए —ऐसे मोक्षगत सिद्ध भगवन्तों के गुणों को पहिचानकर उनकी भक्ति भी श्रावक और श्रमण करते हैं। श्रावक और श्रमण स्वयं शुद्ध रत्नत्रय के आराधक हैं; इसलिये पूर्वकाल में शुद्ध रत्नत्रय की आराधना करके जो मुक्ति को प्राप्त हुए, उनका भी आदर-बहुमान करते हैं। यहाँ सिद्ध भगवान की बात की है, उसी के साथ अरिहंत भगवान आदि की भक्ति की बात भी समझ लेना चाहिए।

इससमय श्री सीमन्धर भगवान आदि तीर्थंकरों और लाखों केवलज्ञानी भगवन्तों के समूह महाविदेहक्षेत्र में विराज रहे हैं; अनंत सिद्धभगवन्त लोक के अग्रभाग में विराज रहे हैं; वे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुख आदि गुणसहित हैं; उन्हें पहिचानकर उनके बहुमानादि का सम्यग्ज्ञानी का भाव, वह व्यवहार से निर्वाणभक्ति है।

देखो, आज आश्रम के मांगलिक में आत्मा की भक्ति आई है और सिद्ध भगवान की भक्ति

भी आई है। यहाँ व्यवहार की प्रधानता से सिद्धभक्ति का कथन है; परन्तु व्यवहार की प्रधानता, वह मोक्षमार्ग नहीं है। सिद्ध भगवान की भक्ति को व्यवहार से निर्वाणभक्ति कहा, इसलिये ऐसा नहीं समझ लेना कि वह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग तो स्वभाव के आश्रय से जो निश्चयरत्नत्रय प्रगट हो, वही है। बीच में राग आये, वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। धर्मात्मा को शुद्धस्वभाव का भान है और राग भी होता है; परन्तु वहाँ वह समझता है कि यह राग मेरा स्वभाव नहीं है, और न इसके आश्रय से मेरा मोक्षमार्ग है; तथापि राग के समय सिद्ध भगवान के ओर की भक्ति का उल्लास भी आये बिना नहीं रहता।—इसप्रकार निश्चय-व्यवहार की संधि है।

[अगले अंक में पूर्ण]

''अहो, शुद्धात्म-प्राप्ति की दुर्लभता!''

हे जीव, शुद्धात्मा की रुचि प्रगट करके एकबार सच्चा श्रोता बन!

अनंतकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को शुद्ध आत्मा की समझ दुर्लभ है—ऐसा बतलाते हुए श्री आचार्यदेव समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि—(१) काम-भोग-बनध की कथा तो सर्व जीवों के सुनने में आ गई है; परन्तु (२) भिन्न आत्मा के एकत्व की बात जीव ने कभी नहीं सुनी है। उसमें से न्याय:—

(१) निगोद में ऐसे अनंत जीव हैं कि जिन्होंने कभी मनुष्यभव धारण ही नहीं किया है; जो कभी निगोद में से निकले ही नहीं हैं, जिन्हें कभी श्रवणेन्द्रिय ही प्राप्त नहीं हुई है, तो उन्होंने किसप्रकार काम-भोग की कथा सुनी होगी? श्री आचार्यदेव कहते हैं कि उन जीवों ने भले ही शब्द न सुने हों, परन्तु काम-भोग की कथा के श्रवण का जो कार्य है, उसे तो वे कर ही रहे हैं; शब्द

नहीं सुने हैं, तथापि उनके भाव-अनुसार विपरीत वर्तन तो वे कर ही रहे हैं। काम-भोग की कथा सुननेवाले अज्ञानी जीव जो (विकार का अनुभव) कर रहे हैं और कह रहे हैं, वैसा वे जीव कथा सुने बिना भी कर ही रहे हैं, इसलिये उन्होंने भी काम-भोग-बन्धन की कथा सुनी है—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। शुद्धात्मा के भान बिना अनंतबार नवमें ग्रैवेयक के भव करनेवाला जीव, और दूसरा नित्यनिगोद का जीव—यह दोनों एक ही प्रकार के हैं; दोनों अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव कर रहे हैं। निगोद के जीव को श्रवण का निमित्त नहीं मिलता है और नवमें ग्रैवेयक जानेवाले जीव को श्रवण का निमितत मिलने पर भी उसका उपादान नहीं सुधरा, इसलिये उसने शुद्धात्मा की बात सुनी—ऐसा यहाँ अध्यात्मशास्त्र में नहीं गिनते। काम-भोग की कथा तो निमित्त है, उसे सुनने का फल क्या ?—विकार का अनुभव। उस विकार का अनुभव तो जीव कर ही रहा है, इसलिये उस जीव ने काम-भोग की कथा सुनी है।

(२) उपरोक्त निगोद के जीव की अपेक्षा विपरीत बात:—अज्ञानी जीव ने अनंतबार तीर्थंकर के समवशरण में जाकर उनकी दिव्यध्वनि में शुद्धात्मा की बात सुनी, तथापि यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा के शुद्धस्वभाव की बात उन जीवों ने कभी सुनी नहीं है; क्योंकि अन्तर की रुचि से उसका परिणमन नहीं किया है; शुद्धात्मा का अनुभव नहीं किया है, इसलिये उसने शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं है। शुद्धात्मा का श्रवण किया—ऐसा तो तब कहा जाये, जब उसका आशय समझकर तदनुसार परिणमन करे। इसलिये भावपूर्वक के श्रवण को ही यहाँ श्रवण में गिना है। निमित्त के साथ उपादान के भाव का मेल हो, तभी वह निमित्त कहलाता है। अनादि से काम-भोग-बन्धन की कथा के निमित्तों के साथ जीव के उपादान का मेल हुआ है, परन्तु शुद्ध ज्ञायक एकत्व-विभक्त आत्मस्वरूप को बतलानेवाले निमित्त के साथ उसके उपादान का मेल नहीं हुआ; इसलिये उसने शुद्ध-आत्मा की बात सुनी भी नहीं है। यहाँ तो उपादान-निमित्त की संधिपूर्वक कथन है। निमित्तरूप से ऐसे कथन को स्वीकार किया है कि जैसा श्रवण किया, वैसी रुचि और अनुभव भी अवश्य करे!

भले ही भगवान की सभा में दिव्यध्वनि सुनता हो, परन्तु यदि अन्तर में व्यवहार के पक्ष का आशय रखे तो उसने वास्तव में शुद्धात्मा का श्रवण नहीं किया है; उसके लिये तो वह विकथा का ही श्रवण है। मात्र आत्मा के शब्द कानों में पड़े, वह कहीं शुद्धात्मा का श्रवण नहीं है, परन्तु श्रवण, परिचय और अनुभव—तीनों की एकता, अर्थात् जैसा शुद्धात्मा सुना, वैसा ही परिचय में-रुचि में

लेकर अनुभव करे, उसका नाम शुद्धात्मा का श्रवण है। ऐसा श्रवण जीव ने पहले कभी नहीं किया है, इसलिये अब तू शुद्धात्मा की रुचि के अपूर्व भाव से इस समयसार का श्रवण करना—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

धर्मकथा या विकथा मात्र शब्दों में नहीं है परन्तु भाव पर उसका आधार है। युद्ध का या शरीर के रूप आदि का वर्णन आये, वहाँ सुननेवाला यदि अपने वैराग्यभाव का पोषण कर रहा हो तो उसके लिये वह वैराग्य-कथा है; और वही शब्द सुनकर कोई जीव अपने विषय-कषाय के भाव की पुष्टि कर रहा हो तो उसके लिये वह विकथा है। उसीप्रकार यहाँ जो जीव शुद्धात्मा की रुचि करे, उसी ने शुद्ध आत्मा की बात श्रवण की है—ऐसा कहा जायेगा; शुद्धात्मा के शब्द कानों में पड़ने पर भी यदि विकार की रुचि न छोड़े तो उसने शुद्धात्मा की बात नहीं सुनी है। इसलिये निमित्त पर कुछ भी भार नहीं रहा परन्तु अपने उपादान में रुचि के भाव पर भार आया।

जैसे—कोई पिता अपने पुत्र से कहे कि बाजार से मिश्री ले आओ! उसका पुत्र यदि मिश्री के बदले अफीम ले आये तो उसने अपने पिता की बात सुनी नहीं कही जायेगी। उसीप्रकार सर्वज्ञभगवान और संत शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाकर उसका अनुभव करने को कहते हैं। कोई जीव शुद्ध आत्मा का अनुभव न करे और विकार की रुचि करके उसी का अनुभव करे तो उस जीव ने वास्तव में शुद्ध आत्मा की बात सुनी ही नहीं है।

भगवान की वाणी में तो एकसाथ निश्चय, व्यवहार आदि सभी का वर्णन आता है। उसे सुनकर 'व्यवहार है न? राग है न? निमित्त है न?'—इसप्रकार जो जीव व्यवहार पर जोर देता है परन्तु, 'आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञायक है'—ऐसे शुद्धात्मा के अस्तित्व पर जोर नहीं देता—अर्थात् अपनी रुचि को शुद्धात्मा की ओर नहीं ढालता—उस जीव ने भगवान की वाणी नहीं सुनी है; क्योंकि भगवान की वाणी सुनने से पूर्व उसका जैसा भाव था, उसी भाव का वह भगवान की वाणी सुनने के पश्चात् भी सेवन कर रहा है। जितने जीव शुद्ध आत्मा की रुचि की ओर नहीं ढलते और अशुद्ध आत्मा की (व्यवहार की, राग की, निमित्त की, पराश्रय की) रुचि करते हैं, उन समस्त जीवों ने काम-भोग-बन्धन की ही कथा सुनी है, किन्तु शुद्ध आत्मा की बात नहीं सुनी। जैसा कार्य वे जीव करते हैं, वैसा ही कार्य नित्यनिगोद के जीव भी कर ही रहे हैं। अनादि से वाणी नहीं सुनी थी, उससमय जो दशा थी, उसमें वाणी श्रवण करने के पश्चात् कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा और वैसी ही दशा रही; तो उसने आत्मस्वभाव की बात सुनी—ऐसा ज्ञानी स्वीकार नहीं करते।

आत्मा के शुद्धस्वभाव की बात यदि एकबार भी प्रतीतिपूर्वक सुने अल्पकाल में ही उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे।

★★★

जीव ने अपने एकत्व स्वभाव का कभी सच्चे निमित्त के पास श्रवण नहीं किया है; सच्चे लक्षपूर्वक उसका परिचय नहीं किया है और न विकल्प तोड़कर अनुभव किया है। यहाँ तो ऐसे ही श्रवण को श्रवणरूप से लिया है कि जिस श्रवण के फल में यथार्थ आत्मस्वरूप का परिचय और अनुभव भी हो; परिचय और अनुभवरहित श्रवण सच्चा श्रवण नहीं है।

समयसार का श्रवण करनेवाला शिष्य भी ऐसा सुपात्र है कि समयसार में बताया हुआ आत्मा का एकत्वस्वरूप सुनने में उसे उत्साह आता है और उसमें उसे अपूर्वता भासित होती है। वर्तमान जिस भाव से मैं श्रवण करता हूँ—ऐसे भाव से पहले मैंने कभी सुना ही नहीं है—इसप्रकार वह अपने भाव में अपूर्वता लाकर सुनता है, इसलिये निमित्त में भी अपूर्वता का ही आरोप आता है। पूर्वकाल में जो शुद्ध आत्मा का श्रवण, परिचय और अनुभव नहीं किया था, वह अब (अपूर्व रुचि प्रगट करके) करने को तैयार हुआ है।

यहाँ आचार्यदेव पूर्व के श्रवण को निमित्तरूप से स्वीकार नहीं करते। क्योंकि उससमय जीव में नैमित्तिकभाव नहीं था; एकत्वस्वभाव के नैमित्तिकभाव के बिना निमित्त किसका? 'शुद्ध आत्मा की बात पहले कभी नहीं सुनी है'—ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव एकत्वस्वभाव के श्रवण को 'अपूर्व' रूप से स्वीकार करते हैं; निमित्त की अपूर्वता वह सिद्ध करती है कि यहाँ नैमित्तिकभाव में भी अपूर्वता का प्रारम्भ प्रगट हुआ है। यदि उपादान में अपूर्वता का प्रारम्भ न हुआ हो तो निमित्त की अपूर्वता को स्वीकार कौन करेगा? निमित्त-नैमित्तिक दोनों के मेलपूर्वक एकत्वस्वभाव का श्रवण पहले कभी नहीं किया है। निमित्त-नैमित्तिकभाव के मेलवाला श्रवण अपूर्व है; उसमें जीव का नैमित्तिकभाव भी अपूर्व है, और उस अपूर्वभाव का निमित्त होने से वह निमित्त भी अपूर्व है।

[श्री समयसार गाथा ४ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से]

मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी

आत्मा और जड़ दोनों पदार्थ बिल्कुल भिन्न हैं। दोनों में प्रतिक्षण अपनी-अपनी अवस्था स्वतन्त्ररूप से होती है। आत्मा, जड़ से बिल्कुल भिन्न है—ऐसा जाने बिना आत्मस्वरूप की रुचि नहीं होती; रुचि के बिना श्रद्धा नहीं होती; श्रद्धा के बिना स्थिरता नहीं होती और स्थिरता के बिना मुक्ति नहीं होती। आत्मा में होनेवाली एक समय की क्षणिक विकारी अवस्था को ध्यान में न लेकर मात्र ज्ञायक ध्रुवस्वभाव को लक्ष में लेकर उसमें स्थिर हुआ, वह तो ज्ञाता ही है। स्वभाव से आत्मा निर्विकारी, आनन्दघन, सच्चिदानन्दस्वरूप, ज्ञाता-दृष्टा, स्वावलम्बी और स्वतन्त्र है; ऐसे आत्मा के ओर की दृष्टि, सो सम्यग्दर्शन है; उसका ज्ञान, सो सम्यग्ज्ञान है और उस स्वभाव में स्थिरता का होना, सो सम्यक्चारित्र है, यही मुक्ति का मार्ग है।

आत्मा का स्वभाव अरूपी ज्ञान-आनन्द का घन ही है; आत्मा में क्षणवर्ती विकारीभाव दिखाई देते हैं, उस ओर दृष्टि न डाली जाये... और नित्य एकरूप स्वभाव की ओर दृष्टि की जाये तो आत्मा अबन्ध, निर्विकारी, निर्मल, आनन्दरूप चैतन्यज्योति है। वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप के क्षणिक विकार और मति-श्रुतज्ञान अवस्था वर्तती है, उनके भेदरहित, विकल्परहित, एकाकार अकेला ज्ञायक ध्रुवरूप से वर्तमान में पूर्ण ज्ञात हुआ, वह तो ज्ञाता ही है। इसप्रकार आत्मा को पर निमित्त के भेदरहित, उपाधिरहित, एकाकार ज्ञायक सामान्य ध्रुवरूप से पहिचानना ही सम्यक्दृष्टि-परमार्थदृष्टि है, वही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है।

[समयसार-प्रवचन से]

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

लेखांक ४] [अंक ९० से आगे

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है; उस पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के अपूर्व प्रवचनों का सार

[जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! 'यह आत्मा कौन है और इसकी प्राप्ति कैसे हो?' उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंत नयोंवाले श्रुतज्ञानप्रमाण द्वारा वह ज्ञात होता है। प्रमाण द्वारा ज्ञात होनेवाले आत्मा का यहाँ ४७ नयों से वर्णन चलता है। उसमें द्रव्यनय, पर्यायनय और अस्तित्व-नास्तित्व आदि सप्तभंगी के सात नयों से जो वर्णन किया उसका विवेचन अभी तक आ गया है।]

यह जो अस्ति-नास्ति आदि धर्म कहे, वे सब पदार्थों में हैं। प्रत्येक सूक्ष्म रजकण में भी यह सातों धर्म हैं। मेरा अस्तित्व मुझमें है और पर में नहीं है; पर का अस्तित्व उसमें है और मुझमें नहीं है; इसलिये न तो किसी परवस्तु से मुझे सुख है और न किसी से दुःख है; और मुझसे परवस्तु में कुछ भी आगे-पीछे नहीं होता;—ऐसा समझे तो अस्ति-नास्ति धर्म को यथार्थ समझा कहा जाता है। पर से मुझे सुख-दुःख होता है और मैं परवस्तु को आगे-पीछे कर सकता हूँ—ऐसा माननेवाला वस्तु के अस्ति-नास्ति धर्म को नहीं समझा है। देव-गुरु-शास्त्र से मुझे लाभ होता है और कर्मों से हानि होती है—ऐसा जो मानता है, वह जीव भी इन धर्मों को नहीं समझा है; क्योंकि जिसका अपने में अभाव है, वह अपने को लाभ-हानि कैसे कर सकता है? नहीं ही कर सकता।

नरक के जीव को अग्नि का या शीत का दुःख नहीं है, क्योंकि उससे तो आत्मा नास्तिरूप है।

इन्द्र के जीव को इन्द्राणी के संयोग का सुख नहीं है, क्योंकि उससे तो आत्मा नास्तिरूप है।

—इसप्रकार जो समझे, उसे अनुकूलता में सुखबुद्धि और प्रतिकूलता में दुःखबुद्धि न रहे; इसलिये अनंतानुबंधी राग-द्वेष तो उसके होंगे ही नहीं। इसप्रकार वस्तुस्वरूप समझते ही अनंत राग-द्वेष दूर हो जाते हैं। वस्तुस्वरूप समझे बिना अन्य चाहे जितने बाह्य उपाय करे, तथापि अनंतानुबन्धी राग-द्वेष दूर नहीं हो सकते। अस्ति-नास्ति धर्म द्वारा वस्तु का स्वरूप समझने से पर से भिन्नत्व का भान होकर स्वाश्रय से सच्चा सुख प्रगट होता है।

आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप वर्तता है और कर्म के चतुष्टयरूप से नहीं वर्तता; और कर्म, आत्मा के चतुष्टयरूप से नहीं वर्तते; इसलिये आत्मा को जड़ कर्मों का बोझ है ही नहीं। जिसप्रकार सिद्ध के आत्मा में कर्म का बोझ नहीं है, उसीप्रकार किसी भी आत्मा में कर्म का बोझा नहीं है। आत्मा पर कर्म का बोझ है—ऐसा कहना—वह तो मात्र निमित्त के संयोग का कथन है; वास्तव में आत्मा में कर्म की नास्ति ही है। लोक के अग्रभाग में जहाँ अनंत सिद्धभगवन्त अपने पूर्णानंद में बिराज रहे हैं, वही निगोद के अनंत जीव भी रहते हैं; वे जीव अनंत दुःख के वेदन में पड़े हैं। जहाँ सिद्ध, वहीं निगोद; तथापि दोनों के आत्मा भिन्न, दोनों का स्व-क्षेत्र भिन्न, दोनों की स्व-पर्याय भिन्न और दोनों के भाव भी भिन्न हैं। अनंत सिद्धभगवन्त और निगोद के जीव जिस आकाशक्षेत्र में विद्यमान हैं, उसी क्षेत्र में अनंत कर्म भी भरे हुए हैं, वहाँ जिसप्रकार सिद्धभगवन्तों को उन कर्मों का बोझा नहीं है; उसीप्रकार निगोद के जीवों को भी वास्तव में कर्मों का बोझ नहीं है। सिद्ध या निगोद प्रत्येक आत्मा अपने स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और कर्म के चतुष्टय का उसमें अभाव है। निगोद के जीव की अत्यन्त हीन दशा है, वह उसके अपने स्वकाल के ही कारण है, कर्म के बोझ के कारण नहीं है। यदि ऐसा न माने तो अस्ति-नास्ति धर्म ही सिद्ध नहीं होगा।

प्रत्येक जीव को अपने ही कारण सुख या दुःख होते हैं—ऐसा जानना, वह निश्चय है, और किसी परवस्तु से सुख-दुःख होते हैं—ऐसा कहना, वह मात्र संयोगरूप निमित्त का ज्ञान करने का व्यवहार है; वास्तव में पर की आत्मा में नास्ति है; उससे आत्मा को सुख-दुःखादि कुछ भी नहीं होता।

आत्मा में अस्ति-नास्ति आदि अनंत स्वधर्म अनादि-अनंत एक समय में वर्त रहे हैं; ऐसे आत्मा को जानकर, उसकी श्रद्धा और ज्ञान करे तो सम्यक्त्व हो; इसके बिना धर्म का अंश भी नहीं हो सकता। परसन्मुख देखने से आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता क्योंकि आत्मा का कोई भी धर्म पर में नहीं है। आत्मा के अनंतधर्म आत्मा में हैं, उसकी सन्मुखता से ही पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्रगट होते हैं।

✦✦✦

अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगी वह जैनधर्म का मूल है; उससे जगत की किसी भी वस्तु का स्वरूप निश्चित हो जाता है। कोई ऐसा कहे कि शास्त्र के कारण ज्ञान होता है; तो कहते हैं कि नहीं; क्योंकि आत्मा के अस्तित्व में शास्त्र की नास्ति है। कोई कहे कि जड़ कर्म आत्मा के ज्ञान को रोकते हैं; तो कहते हैं कि नहीं; क्योंकि आत्मा के अस्तित्व में कर्म का नास्तित्व है। सप्तभंगी द्वारा जीव दूसरे छहों द्रव्यों से पृथक् हो जाता है।

(१) जीव जीवरूप है और दूसरे अनंत पर जीवोंरूप वह नहीं है; इसलिये वह दूसरे जीवों का कुछ नहीं कर सकता, और दूसरे जीवों से भी उसका कुछ नहीं हो सकता।

(२) जीव अपनेरूप से है और अनंत पुद्गलरूप से नहीं है; इसलिये वह शरीरादि पुद्गल में कुछ नहीं कर सकता, और शरीर तथा कर्म आदि जीव में कुछ नहीं कर सकते।

(३) जीव अपनेरूप है और धर्मास्तिकाय द्रव्यरूप नहीं है; इसलिये धर्मास्तिकाय के कारण जीव गति नहीं करता।

(४) जीव अपनेरूप है और अधर्मास्तिकाय द्रव्यरूप नहीं है; इसलिये अधर्मास्तिकाय के कारण वह स्थिर रहता है—ऐसा नहीं है।

(५) जीव अपनेरूप है और कालद्रव्यरूप वह नहीं है; इसलिये कालद्रव्य जीव को परिणमित करता है—ऐसा नहीं है।

(६) जीव अपनेरूप है और आकाशद्रव्यरूप वह नहीं है; इसलिये वास्तव में जीव आकाश के क्षेत्र में स्थित नहीं है परन्तु अपने स्वक्षेत्र में ही स्थित है।

—इसप्रकार जो जीव अस्ति-नास्ति धर्म द्वारा अपने को समस्त परद्रव्यों से पृथक् जाने, वह अपने स्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहता। आत्मा का नास्तित्व धर्म कहने से परद्रव्यों का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है; क्योंकि यदि परद्रव्य न हों तो उनके अभावरूप जीव का नास्तित्व धर्म सिद्ध नहीं हो सकता।

सप्तभंगी द्वारा समस्त परद्रव्यों से तो आत्मा को भिन्न किया; अब स्वयं अपने में भी अनंत सप्तभंगी उतरती है।

जगत में अनंत द्रव्य हैं, उनमें प्रत्येक द्रव्य की अपनेरूप से आस्ति और दूसरे अनंत द्रव्यरूप से नास्ति;—इसप्रकार द्रव्य में अनंत सप्तभंगी समझना।

अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि अनंतगुण हैं, उनमें प्रत्येक गुण अपनेरूप है और दूसरे अनंत गुणोंरूप वह नहीं है—इसप्रकार प्रत्येक गुण में अनंत सप्तभंगी समझना।

प्रत्येक गुण की अनंत पर्यायें हैं, उनमें प्रत्येक पर्याय अपनेरूप है और आगे-पीछे की अनंत पर्यायोंरूप वह नहीं है;—इसप्रकार अनंत-पर्यायों में प्रत्येक की अनंत सप्तभंगी समझना।

प्रत्येक पर्याय में अनंत अविभागप्रतिच्छेद अंश है; उनमें का प्रत्येक अंश अपनेरूप है और दूसरे अनंत अंशोंरूप वह नहीं है;—इसप्रकार प्रत्येक अविभागप्रतिच्छेद अंश में भी अनंत सप्तभंगी उतरती है।

और द्रव्य-गुण-पर्याय में परस्पर अस्ति-नास्तिरूप सप्तभंगी उतरती है; वह इसप्रकार है—

द्रव्य, द्रव्यरूप है और गुणरूप या पर्यायरूप वह नहीं है; एक गुण, गुणरूप है और पूर्ण द्रव्यरूप अथवा एक पर्यायरूप नहीं है; एक पर्याय, पर्यायरूप है और द्रव्य या गुणरूप वह नहीं है;—ऐसा न हो तो द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों का भिन्न-भिन्न लक्षण ही सिद्ध नहीं हो सकेगा।

इस सप्तभंगी में बहुत विस्तार है; चौदह ब्रह्माण्ड इसमें समा जाते हैं; यह तो सूक्ष्म वीतरागी विज्ञान है। लोग बाह्य संयोग से पदार्थ को देखते हैं; वह देखने की ही भूल है—'देखत भूल' है। संयोगी दृष्टि कहो या 'देखत भूल' कहो, वही संसार का मूल है। वस्तु में संयोग का तो अभाव है—इसप्रकार यदि अस्ति-नास्ति से वस्तु के निरपेक्ष स्वभाव को देखें तो 'देखत भूल' दूर हो!

देखो, यह स्वतंत्रता का ढंढेरा :—

जगत में अनंत द्रव्य हैं, उनमें एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण हैं; उनमें एक गुण कभी दूसरे गुणरूप नहीं होता।

प्रत्येक गुण की अनंत पर्यायें हैं, उनमें एक पर्याय कभी भी दूसरी पर्यायरूप नहीं होती। द्रव्यरूप से द्रव्य सत्, गुणरूप से गुण सत्, और पर्यायरूप से प्रत्येक समय की पर्याय भी सत्; कोई एक-दूसरेरूप नहीं हो जाते। अहो! देखो तो, यह वस्तुदर्शन! कितनी निरपेक्षता! ऐसा निरपेक्ष स्वरूप समझे तो ज्ञान में निरपेक्षता अर्थात् वीतरागता हो जाये, मात्र ज्ञाताभाव रह जाये;—इसका नाम धर्म है।

द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत्;—सब अपने-अपनेरूप से सत्रूप जैसे का तैसा विद्यमान है। ज्ञाता-दृष्टा होकर उसे ज्ञेय करना ही तेरा काम है। कहीं आगे-पीछे या फेरफार हो सके—ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। और 'ऐसा क्यों?'—ऐसा राग-द्वेष का विकल्प करना, वह ज्ञान का भी स्वरूप नहीं है। ऐसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति करने से कर्तृत्व का मोह दूर होकर ज्ञातृत्व प्रगट हो, उसका नाम धर्म है।

✦✦✦

प्रत्येक आत्मा में अनंत धर्म हैं; वे आत्मा को स्वानुभव से श्रुतज्ञानप्रमाण जानते हैं। उस श्रुतज्ञान में अनंत नय हैं; प्रत्येक नय आत्मा के प्रत्येक धर्म को जानता है। धर्म अर्थात् द्रव्य का भाग; और नय अर्थात् श्रुतज्ञान का भाग। अनंत धर्मात्मक पूर्ण वस्तु को जाने, वह प्रमाणज्ञान है, और उसके एक धर्म को मुख्य करके जाने, वह नय है। यह नय साधक के श्रुतज्ञान में ही होते हैं। केवली भगवान के आत्मा में अस्तित्व आदि अनंत धर्म हैं, परन्तु उनके ज्ञान में अस्तित्व आदि कोई नय नहीं होते; वे तो नयातीत हो गये हैं। यहाँ तो जिसे नय द्वारा वस्तुस्वरूप की साधना करना है—ऐसे साधक को ४७ नयों द्वारा आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं। सिद्ध परमात्मा या एक परमाणु,—प्रत्येक द्रव्य अनंत धर्मात्मक हैं; परन्तु यहाँ तो आत्मा को बतलाने का प्रयोजन है; इसलिये आत्मा के धर्मों की बात है। आत्मा वस्तु कैसी है, और वह कैसे ज्ञात होती है—उसकी यह बात चलती है।

स्वचतुष्टय से आत्मा अस्तिरूप है और पर-चतुष्टय से नास्तिरूप है। जो अस्तिरूप है, वही नास्तिरूप है।—किसप्रकार ?—स्व अपेक्षा से जो अस्तिरूप है, वही पर अपेक्षा से नास्तिरूप है; परन्तु जिस अपेक्षा से अस्तिरूप है, उसी अपेक्षा से नास्तिरूप नहीं है। एक ही वस्तु के दो धर्म हैं परन्तु एक ही अपेक्षा से दोनों धर्म नहीं हैं। जिस अपेक्षा से अस्तित्व है, उस अपेक्षा से तो अस्तित्व ही है, उस अपेक्षा नास्तित्व नहीं है। जो आत्मा है, वही अनात्मा है।—किसप्रकार ?—स्व-रूप से जो आत्मा है, वही आत्मा पर स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है; इसलिये वह अनात्मा है। आत्मा को 'अनात्मा' कहने से कई लोग उलझन में पड़ जाते हैं, कि अरे— आत्मा कहीं अनात्मा हो सकता है ? परन्तु 'आत्मा पर-रूप नहीं है'—ऐसा कहो या 'पर की अपेक्षा से आत्मा, अनात्मा है'—ऐसा कहो; अथवा तो आत्मा अपने आत्मा की अपेक्षा से आत्मा है और दूसरे आत्मारूप से स्वयं नहीं है; इसलिये दूसरे आत्मा की अपेक्षा से यह आत्मा 'अनात्मा' है।

जो क्षेत्ररूप है, वही अक्षेत्ररूप है; आत्मा अपने असंख्य प्रदेश अपेक्षा से क्षेत्ररूप है, परन्तु पर के क्षेत्र की अपेक्षा से वह अक्षेत्ररूप है। क्षेत्ररूपपना और अक्षेत्ररूपपना—यह दोनों धर्म आत्मा के हैं।

इसीप्रकार, स्वकाल अपेक्षा से जो कालरूप है, वही पर काल अपेक्षा से अकालरूप है। आत्मा अपने स्वकाल से अस्तिरूप है और पर काल से वह नास्तिरूप है। अपनी प्रत्येक समय की पर्याय स्वकाल से होनेरूप है और वही पर्याय, पर काल से नास्तिरूप है।

उसीप्रकार जो भावरूप है, वही अभावरूप है। आत्मा का भाव अपने रूप से है और परके भाव की अपेक्षा से वह भाव नहीं है अर्थात् अभाव है। स्व अपेक्षा से आत्मा का भाव है और पर अपेक्षा से वह अभावरूप है।

—इसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव—चारों में अस्ति-नास्ति समझना। आत्मा के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल या भाव का एक अंश भी पररूप नहीं है, और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का एक अंश भी आत्मारूप नहीं है;—ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान, पर की एकत्वबुद्धि से छूटकर स्वभाव के आश्रय की ओर ही ढल जाता है, इसलिये मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है।

स्व-पर तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं;—ऐसे स्वतंत्र वस्तुस्वरूप को न समझे और वस्तु को पराधीन माने, उसे सच्चा समताभाव नहीं हो सकता। वस्तुस्वरूप को पराधीन माना, उस मान्यता में ही अनंत विषमभाव विद्यमान हैं। भले ही बाह्य से क्रोधी दिखलाई न दे और मंद कषाय रखता हो तथापि, वस्तुस्वरूप का जहाँ भान नहीं है, वहाँ समता का अंश भी नहीं होता; आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनादर ही महान विषमभाव है। प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है; मेरा स्वभाव सबको मात्र जानने का है—ऐसी वस्तु की स्वतन्त्रता को जानकर अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना ही सच्चा समभाव है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनंत धर्मों को स्वतन्त्ररूप से धारण कर रखती है। वस्तु का धर्म पर के कारण नहीं होता। प्रत्येक आत्मा अपने अनंत धर्मों का आधार है। द्रव्यनय, पर्यायनय, तथा अस्तित्व-नास्तित्व आदि सात नय—इसप्रकार कुल नव नयों से आत्मा का वर्णन किया। अब दसवें विकल्पनय से आत्मा का वर्णन करेंगे।

(क्रमशः)

सर्वज्ञदेव कथित छहों द्रव्यों की स्वतंत्रतादर्शक

: सामान्यगुण :

(१) अस्तित्वगुण :—

मिथ्यात्ववश जो मानता 'कर्त्ता जगत भगवान को,'
वह भूलता है लोक में अस्तित्वगुण के ज्ञान को;
उत्पाद-व्यययुत वस्तु है फिर भी सदा ध्रुवता धरे,
अस्तित्वगुण के योग से कोई नहीं जग में मरे ॥१॥

(२) वस्तुत्वगुण:—

वस्तुत्वगुण के योग से हो द्रव्य में स्व-स्वक्रिया,
स्वाधीन गुण-पर्याय का ही पान द्रव्यों ने किया;
सामान्य और विशेषता से कर रहे निज काम को,
यों मानकर वस्तुत्व को पाओ विमल शिवधाम को ॥२॥

(३) द्रव्यत्वगुण:—

द्रव्यत्वगुण इस वस्तु को जग में पलटता है सदा,
लेकिन कभी भी द्रव्य तो तजता न लक्षण सम्पदा;
स्व-द्रव्य में मोक्षार्थि हो स्वाधीन सुख लो सर्वदा,
हो नाश जिससे आजतक की दु:खदायी भवकथा ॥३॥

(४) प्रमेयत्वगुण:—

सब द्रव्य-गुण प्रमेय से बनते विषय हैं ज्ञान के,
रुकता न सम्यग्ज्ञान पर से जानियो यों ध्यान से;
आत्मा अरूपी ज्ञेय निज यह ज्ञान उसका जानता,
है स्व-पर सत्ता विश्व में सुदृष्टि उनको जानता ॥४॥

(५) अगुरुलघुत्वगुण:—

यह गुण अगुरुलघु भी सदा रखता महत्ता है महा,
गुण-द्रव्य को पररूप यह होने न देता है अहा!;
निज गुण-पर्यय सर्व ही रहते सतत निजभाव में,
कर्ता न हर्ता अन्य कोई यों लखो स्व-स्वभाव में ॥५॥

(६) प्रदेशत्वगुण:—

प्रदेशत्वगुण की शक्ति से आकार द्रव्यों को धरे,
निजक्षेत्र में व्यापक रहें आकार भी स्वाधीन है;
आकार हैं सब के अलग, हो लीन अपने ज्ञान में,
जानों इन्हें सामान्यगुण रक्खो सदा श्रद्धान में ॥६॥

'दर्शाऊँ तो करना प्रमाण....'

'इस शब्दब्रह्मरूप परमागम से दर्शाये हुए एकत्व-विभक्त आत्मा को प्रमाण करना, स्वीकार करना, कल्पना मत करना। इसका बहुमान करनेवाला भी महान् भाग्यशाली है।'

—पूज्य स्वामीजी

श्री आचार्यभगवान कहते हैं कि इस समयसार द्वारा मैं अपने आत्मा के स्व-वैभव से एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दर्शाता हूँ। उसका श्रवण करनेवाले हे श्रोताओं! श्रवण करते समय तुम भी एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य बात अपने में बीच में नहीं लाना और मुझमें भी वह मत देखना। मैं एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का ही कथन करना चाहता हूँ; उसे सुनते हुए तुम भी उसी का लक्ष रखना।

आत्मा के एकत्व-विभक्त स्वरूप का कथन करते हुए बीच में कहीं विभक्ति आदि का दोष आ जाये तो उस दोष को देखने में मत रुकना; और तुम्हें यदि व्याकरणादि न आये तो अपने में भी उस दोष को मत देखना; क्योंकि मेरे लक्ष का जोर भाषा पर नहीं किन्तु शुद्ध आत्मा पर ही है, उसमें तो मेरी भूल कदापि नहीं होगी; इसलिये तुम भी मैं जैसा शुद्ध आत्मा दर्शाना चाहता हूँ, वैसे शुद्ध आत्मा को लक्ष में रखकर उपादान-निमित्त के भाव की संधि करना—अर्थात् मैं अपने स्वानुभव से जैसा शुद्धात्मा कहना चाहता हूँ, वैसा शुद्धात्मा तुम भी स्वानुभव से समझ जाना।

यहाँ व्याकरणादि के ज्ञान की महिमा नहीं है, परन्तु जो ज्ञान आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर शुद्ध आत्मा का स्वानुभव करे, उसी ज्ञान की महिमा है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू शुद्धात्मा को ही प्रमाण करना; हमारी वाणी के लक्ष से नहीं किन्तु अपने स्वानुभव से तू प्रमाण करना; वाणी के लक्ष से तो विकल्प होगा, उसकी मुख्यता मत करना; अन्य किसी ज्ञान की मुख्यता मत करना किन्तु शुद्ध आत्मा की मुख्यता करके उसका स्वानुभव करना। कोई कहे कि यह समयसार सुनकर करना क्या?—तो आचार्य कुन्दकुन्द प्रभु कहते हैं कि स्वानुभव से शुद्ध आत्मा को प्रमाण करना चाहिए।

आचार्यदेव कहते हैं कि मेरे आत्मा का जितना निजवैभव है, उस सर्व से मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शाऊँगा। मैं जिसप्रकार दर्शाऊँ, उसीप्रकार श्रोता को स्वयमेव अपने

अनुभवप्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना चाहिए। बाह्य ज्ञान के बोल में कहीं चूक जाऊँ तो उसे ग्रहण करने में सावधान मत होना। सावधानी तो शुद्ध आत्मा में ही रखना।

हे जीव! यदि तू एकत्व-विभक्त आत्मा के अतिरिक्त मुझमें अन्य कोई लक्ष करके अटकेगा तो तुझमें ही दोष की उत्पत्ति होगी। पर की ओर लक्ष करके रुका, वही दोष है। प्रथम तो, तू अपने में दोष करके रुकेगा, तब दूसरे के दोष की ओर तेरा लक्ष जायेगा न? परन्तु तू एकत्वविभक्त शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं लक्ष करके नहीं रुकना, इसलिये मुझमें भी तुझे दोष देखने का विकल्प उत्पन्न नहीं होगा। मैं शुद्धात्मा कहता हूँ और तू उसका स्वीकार करना। मैं जो नहीं कहना चाहता उस पर तू भी जोर मत देना; मैं जो एकत्वविभक्त आत्मा दर्शाना चाहता हूँ, उसे लक्ष में लेकर उसका स्वीकार करना।

श्री आचार्यदेव निरभिमानतापूर्वक कहते हैं कि मैं अभी छद्मस्थ हूँ। श्री तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि में या गणधरदेव की रचना में तो किसीप्रकार की न्यूनता नहीं आ सकती, परन्तु मेरी इतनी सामर्थ्य नहीं है; इसलिये कहीं व्याकरण आदि में दोष आ जाना संभव है। स्वानुभव में तो मैं निःशंक हूँ; अपने स्वानुभव से मैं शुद्धात्मा का जो कथन करूँगा, उसमें तो कहीं भूल नहीं ही आ सकती। अहो! आचार्यदेव को जितनी निःशंकता है, उतनी ही निरभिमानता है। इसलिये कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ किन्तु छद्मस्थ हूँ, तथापि मुझे शुद्ध आत्मा का प्रचुर स्वसंवेदन वर्तता है इसलिये मैं अपने स्वानुभव से शुद्धात्मा का जो वर्णन करूँगा, उसमें तो कहीं दोष नहीं ही आयेगा, परन्तु व्याकरण की विभक्ति आदि में कदाचित् कहीं दोष आ जाये और तेरे ज्ञान के क्षयोपशम में वह ज्ञात हो जाये तो तू उस ज्ञान पर या दोष पर मुख्यरूप से मत देखना, परन्तु उसे गौण करके एकत्व-स्वभाव को ही मुख्यरूप से देखना, उस स्वभाव की ओर ही ढलना।

देखो! आचार्यभगवान को शुद्धात्मा दर्शाने का विकल्प उठा है, वह सामनेवाले शिष्य की भी शुद्धात्मा का अनुभव करने की पात्रता सूचित करता है। 'मैं दर्शाता हूँ और तुम प्रमाण करना'—ऐसा आचार्यदेव ने कहा, तो सामने उस शुद्धात्मा को प्रमाण करनेवाले जीव न हों—ऐसा हो ही नहीं सकता। 'दर्शाऊँ तो प्रमाण करना'—ऐसा कहने में आचार्यदेव को विश्वास है कि शिष्य ने पूर्व अनंतकाल में मिथ्यावासनावश शुद्धात्मा का यथार्थ श्रवण नहीं किया, वह भाव दूर करके अब भिन्न ही प्रकार से अपूर्वरूप से शुद्धात्मा का यथार्थ श्रवण करके वह शुद्धात्मा को समझ

जायेगा। पूर्वकाल में जिसे तूने कभी नहीं जाना—ऐसा शुद्धात्मा मैं तुझे इससमय दर्शाता हूँ, इसलिये तू अपूर्वभाव से वह प्रमाण करके स्वानुभव करना।

इसप्रकार इस समय के श्रोता और वक्ता—दोनों को शुद्धात्मा के ओर की अपार रुचि है। 'मैं शुद्ध आत्मा को दर्शाता हूँ और तू उसका स्वीकार करके अपने स्वानुभव से प्रमाण करना'—ऐसा कहकर फिर तुरन्त छठवीं गाथा में श्री आचार्यदेव आत्मा का एकत्व-विभक्त ज्ञायकस्वभाव दर्शाते हैं।

[श्री समयसार गाथा ५ के प्रवचन से]

''समयसार का श्रोता''

[काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग]

'समयसार' का श्रवण करनेवाला पात्र शिष्य कैसा होता है? श्री आचार्यदेव ने आत्मस्वभाव का जो एकत्वस्वरूप समयसार में समझाया है, वह सद्गुरुगम से श्रवण करने में उसे अपूर्व उत्साह है... उल्लास है... रुचि है। अनंत पूर्वकाल में नहीं सुना था—ऐसे अपूर्वभाव से वह आत्मा के एकत्वस्वभाव का श्रवण... परिचय... मन्थन करता है। इसलिये, चौथी गाथा में कथित 'एकत्वस्वभाव की बात जीवों ने कभी नहीं सुनी है...' ऐसे प्रकार में से अब वह बाहर निकल गया है... और अब तो 'दर्शाऊँ तो प्रमाण करना'—इस कथनानुसार वह अपने स्वानुभव से प्रमाण करने को तैयार हुआ है। उसने ज्ञानी की उपासनापूर्वक एकत्वस्वभाव का श्रवण किया है। उसी रुचिपूर्वक स्वीकार करके बारम्बार परिचय किया है... और.... छट्ठी गाथा में दर्शाये हुए 'भगवान ज्ञायकस्वभाव' का अनुभव प्रगट करने के लिये वह कटिबद्ध हुआ है।

—ऐसा सुपात्र जीव समयसार का श्रोता है, और वह अल्पकाल में ही शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। अहो! जो दुर्लभ है, वह उसे संतों की कृपा से सुलभ हुआ है।

[— श्री समयसार गाथा ४-५-६ पर के प्रवचनों पर से]

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी-प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें !

समयसार प्रवचन – भाग १	६-०-०
समयसार प्रवचन – भाग २	५-०-०
समयसार प्रवचन – भाग ३	४-८-०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें	१-६-०
दसलक्षणधर्म	०-१२-०
सम्यग्दर्शन	२-८-०
भेदविज्ञानसार	२-०-०
मूल में भूल	०-१२-०
मुक्ति का मार्ग	०-१०-०
आत्मधर्म की वार्षिक फाइलें	३-१२-०

(डाक व्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये

जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया